श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

उद्धव गीता (11.10)



स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्री कृष्ण तैयार।
उद्धृत किए उद्धव समक्ष अद्भुत अनमोल उद्गार ।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
एकादशः स्कन्धः
॥ अथ दशमोऽध्यायः॥

श्रीभगवानुवाच
मयोदितेष्ववहितः(स्), स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचार- मकामात्मा समाचरेत् ॥ 1॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- 'प्यारे उद्धव! साधक को चाहिये कि सब तरह से मेरी शरण में रहकर मेरे द्वारा उपदिष्ट अपने धर्मों का सावधानी से पालन करे। साथ ही जहाँ तक उनसे विरोध न हो ,वहाँ तक निष्काम भाव से अपने वर्ण, आश्रम और कुल के अनुसार सदाचार का भी अनुष्ठान करे।

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा , देहिनां(वँ) विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन, सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ 2॥

निष्काम होने का उपाय यह है कि स्वधर्मों का पालन करने से शुद्ध हुए अपने चित्त में यह विचार करे कि जगत् के विषयी प्राणी शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों को सत्य समझकर उनकी प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न करते हैं, उसमें उनका उद्देश्य तो यह होता है कि सुख मिले, परन्तु मिलता है दुःख,

सुप्तस्य विषयालोको , ध्यायतो वा मनोरथः ।

नानात्मकत्वाद् विफलस्- तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ 3॥

इसके सम्बन्ध में ऐसा विचार करना चाहिये कि स्वप्नावस्था में और मनोरथ करते समय जाग्रत्-अवस्था में भी मनुष्य मन-ही-मन अनेकों प्रकार के विषयों का अनुभव करता है, परन्तु उसकी वह सारी कल्पना वस्तुशून्य होने के कारण व्यर्थ है। वैसे ही इन्द्रियों के द्वारा होने वाली भेद बुद्धि भी व्यर्थ ही है, क्योंकि यह भी इन्द्रियजन्य और नाना वस्तु विषयक होने के कारण पूर्ववत् असत्य ही है।

निवृत्तं(ङ्) कर्म सेवेत , प्रवृत्तं(म्) मत्परस्त्यजेत् ।

जिज्ञासायां(म्) सं(म्)प्रवृत्तो, नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् ॥ 4॥

जो पुरुष मेरी शरण में है, उसे अन्तर्मुख करने वाले निष्काम अथवा नित्यकर्म ही करने चाहिये। उन कर्मों का बिलकुल परित्याग कर देना चाहिये जो बहिर्मुख बनाने वाले अथवा सकाम हों। जब आत्मज्ञान की उत्कट इच्छा जाग उठे, तब तो कर्मसम्बन्धी विधि-विधानों का भी आदर नहीं करना चाहिये।

यमानभीक्ष्णं(म्) सेवेत , नियमान् मत्परः(ख्) क्वचित् ।

मदभिज्ञं(ङ्) गुरुं(म्) शान्त- मुपासीत मदात्मकम् ॥ 5॥

अहिंसा आदि यमों का तो आदरपूर्वक सेवन करना चाहिये, परन्तु शौच (पवित्रता) आदि नियमों का पालन शक्ति के अनुसार और आत्मज्ञान के विरोधी न होने पर ही करना चाहिये। जिज्ञासु पुरुष के लिये यम और नियमों के पालन से भी बढ़कर आवश्यक बात यह है कि वह अपने गुरु की, जो मेरे स्वरूप को जानने वाले और शान्त हों, मेरा ही स्वरूप समझकर सेवा करे।

अमान्यमत्सरो दक्षो , निर्ममो दृढसौहृदः ।

असत्वरोऽर्थजिज्ञासु- रनसूयुरमोघवाक् ॥ 6॥

शिष्य को अभिमान न करना चाहिये। वह कभी किसी से डाह न करे-किसी का बुरा न सोचे। वह प्रत्येक कार्य में कुशल हो-उसे आलस्य छू न जाये। उसे कहीं भी ममता न हो, गुरु के चरणों में दृढ़ अनुराग हो। कोई काम हड़बड़ाकर न करे-उसे सावधानी से पूरा करे। सदा परमार्थ के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बनाये रखे। किसी के गुणों में दोष न निकाले और व्यर्थ की बात न करे।

जायापत्यगृहक्षेत्र- स्वजनद्रविणादिषु ।

उदासीनः(स्) समं(म्) पश्यन्, सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥ 7॥

जिज्ञासु का परम धन है आत्मा; इसलिये वह स्त्री-पुत्र, घर-खेत, स्वजन और धन आदि सम्पूर्ण पदार्थों में एक सम आत्मा को देखे और किसी में कुछ विशेषता का आरोप करके उससे ममता न करे, उदासीन रहे।

विलक्षणः(स्) स्थूलसूक्ष्माद्, देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।

यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्, दाहकोऽन्यः(फ्) प्रकाशकः ॥ 8॥

उद्धव! जैसे जलने वाली लकड़ी से उसे जलाने और प्रकाशित करने वाली आग सर्वथा अलग है। ठीक वैसे ही विचार करने पर जान पड़ता है कि पंचभूतों का बना स्थूल शरीर और मन-बुद्धि आदि सत्रह तत्त्वों का बना सूक्ष्म शरीर दोनों ही दृश्य और जड़ हैं तथा उनको जानने और प्रकाशित करने वाला आत्मा साक्षी एवं स्वयं प्रकाश है। शरीर अनित्य, अनेक एवं जड़ है। आत्मा नित्य, एक एवं चेतन है। इस प्रकार देह की अपेक्षा आत्मा में महान् विलक्षणता है। अतएव देह से आत्मा भिन्न है।

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्- नानात्वं(न्) तत्कृतान् गुणान् ।

अन्तः(फ्) प्रविष्ट आधत्त, एवं(न्) देहगुणान् परः ॥ 9॥

जब आग लकड़ी में प्रज्वलित होती है, तब लकड़ी के उत्पत्ति-विनाश, बड़ाई-छोटाई और अनेकता आदि सभी गुण वह स्वयं ग्रहण कर लेती है। परन्तु सच पूछो तो लकड़ी के उन गुणों से आग का कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे ही जब आत्मा अपने को शरीर मान लेता है, तब वह देह के जड़ता, अनित्यता, स्थूलता, अनेकता आदि गुणों से सर्वदा रहित होने पर भी उनसे युक्त जान पड़ता है।

योऽसौ गुणैर्विरचितो, देहोऽयं(म्) पुरुषस्य हि ।

संसारस्तन्निबन्धोऽयं(म्), पुं(म्)सो विद्याच्छिदात्मनः ॥ 10॥

ईश्वर के द्वारा नियन्त्रित माया के गुणों ने ही सूक्ष्म और स्थूल शरीर का निर्माण किया है। जीव को शरीर और शरीर को जीव समझ लेने के कारण ही स्थूल शरीर के जन्म-मरण और सूक्ष्म शरीर के आवागमन का आत्मा पर आरोप किया जाता है। जीव को जन्म-मृत्युरूप संसार इसी भ्रम अथवा अध्यास के कारण प्राप्त होता है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने पर उसकी जड़ कट जाती है।

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मान- मात्मस्थं(ङ्) केवलं(म्) परम् ।

सं(ङ्)गम्य निरसेदेतद्- वस्तुबुद्धिं(म्) यथाक्रमम् ॥ 11॥

प्यारे उद्धव! इस जन्म-मृत्युरूप संसार का कोई दूसरा कारण नहीं, केवल अज्ञान ही मूल कारण है। इसलिए अपने वास्तविक स्वरूप को, आत्मा को जानने की इच्छा करनी चाहिये। अपना यह वास्तविक स्वरूप समस्त प्रकृति और प्राकृत जगत् से अतीत, द्वैत की गन्ध से रहित एवं अपने-आप में ही स्थित हैं। उसका कोई और आधार नहीं है। उसे जानकार धीरे-धीरे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर आदि में जो सत्यत्व बुद्धि हो रही है, उसे क्रमशः मिटा देना चाहिये।

आचार्योऽरणिराद्यः(स्) स्या- दन्तेवास्युत्तरारणिः ।

तत्सन्धानं(म्) प्रवचनं(वँ), विद्यासन्धिः(स्) सुखावहः ॥ 12॥

विद्यारूप अग्नि की उत्पत्ति के लिये आचार्य और शिष्य तो नीचे-ऊपर की लकड़ियाँ हैं तथा उपदेश मन्थन काष्ठ है। इनसे जो ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है, वह विलक्षण सुख देने वाली है।

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धिर्-

धुनोति मायां(ङ्) गुणसम्प्रसूताम् ।

गुणां(म्)श्च सन्दह्य यदात्ममेतत्,

स्वयं(ञ्) च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः ॥ 13॥

इस यज्ञ में बुद्धिमान शिष्य सद्गुरु के द्वारा जो अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करता है, वह गुणों से बनी हुई विषयों की माया को भस्म कर देता है। तत्पश्चात् वे गुण भी भस्म हो जाते हैं, जिनसे कि यह संसार बना हुआ है। इस प्रकार सब के भस्म हो जाने पर जब आत्मा के अतिरिक्त और कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती, तब वह ज्ञानाग्नि भी ठीक वैसे ही अपने वास्तविक स्वरूप में शान्त हो जाती है, जैसे समिधा न रहने पर आग बुझ जाती है।

अथैषां(ङ्) कर्मकर्तृणां(म्), भोक्तृणां(म्) सुखदुःखयोः ।

नानात्वमथ नित्यत्वं(लँ), लोककालागमात्मनाम् ॥ 14॥

हे उद्धव, मैंने तुम्हें पूर्ण ज्ञान बतला दिया। किन्तु ऐसे भी दार्शनिक हैं, जो मेरे निष्कर्ष का प्रतिवाद करते हैं। उनका कहना है कि जीव का स्वाभाविक पद तो सकाम कर्म में निरत होना है और वे जीव को उसके कर्म से उत्पन्न सुख-दुख के भोक्ता के रूप में देखते हैं।

मन्यसे सर्वभावानां(म्), सं(म्)स्था ह्यौत्पत्तिकी यथा ।

तत्तदाकृतिभेदेन, जायते भिद्यते च धीः ॥ 15॥

इस भौतिकतावादी दर्शन के अनुसार जगत, काल, प्रामाणिक शास्त्र तथा आत्मा—ये सभी विविधतायुक्त तथा शाश्वत हैं और विकारों के निरन्तर प्रवाह के रूप में विद्यमान रहते हैं। यही नहीं, ज्ञान एक अथवा नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह विविध एवं परिवर्तनशील पदार्थों से उत्पन्न होता है। फलस्वरूप ज्ञान स्वयं भी परिवर्तनशील होता है।

एवमप्यं(ङ्)ग सर्वेषां(न्), देहिनां(न्) देहयोगतः ।

कालावयवतः(स्) सन्ति, भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥ 16॥

हे उद्धव, यदि तुम इस दर्शन को मान भी लो, तो भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग सदा बने रहेंगे, क्योंकि सारे जीवों को काल के प्रभाव के अधीन भौतिक शरीर स्वीकार करना होगा।

अत्रापि कर्मणां(ङ्) कर्तु- रस्वातन्त्र्यं(ञ्) च लक्ष्यते ।

भोक्तुश्च दुःखसुखयोः(ख्), को न्वर्थो विवशं(म्) भजेत् ॥ 17॥

सुख-भोग की समस्या सुलझ जाने पर भी दुःख-भोग की समस्या तो उलझी हो रहेगी। अतः इस मत के अनुसार जीव को कभी मुक्ति या स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकेगी।अब जीव स्वरूपतः परतन्त्र है, विवश है, तब तो स्वार्थ या परमार्थ कोई भी उसका सेवन न करेगा। अर्थात् वह स्वार्थ और परमार्थ दोनों से ही वंचित रह जायेगा।

न देहिनां(म्) सुखं(ङ्) किञ्चिद् , विद्यते विदुषामपि ।

तथा च दुःखं(म्) मूढानां(वँ), वृथाहं(ङ्)करणं(म्) परम् ॥ 18॥

ऐसा देखा जाता है कि बड़े-बड़े कर्मकुशल विद्वानों को भी कुछ सुख नहीं मिलता और मूढ़ों का भी कभी दुःख से पाला नहीं पड़ता। इसलिये जो लोग अपनी बुद्धि या कर्म से सुख पाने का घमंड करते हैं, उनका वह अभिमान व्यर्थ है।

यदि प्राप्तिं(वँ) विघातं(ञ्) च, जानन्ति सुखदुःखयोः ।

तेऽप्येद्धा न विदुर्योगं(म्), मृत्युर्न प्रभवेद् यथा ॥ 19॥

यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि वे लोग सुख की प्राप्ति और दुःख के नाश का ठीक-ठाक उपाय जानते हैं, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी ऐसे उपाय का पता नहीं है, जिससे मृत्यु उनके ऊपर कोई प्रभाव न डाल सके और वे कभी मरें ही नहीं।

को न्वर्थः(स्) सुखयत्येनं(ङ्), कामो वा मृत्युरन्तिके ।

आघातं(न्) नीयमानस्य, वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥ 20॥

जब मृत्यु उनके सिर पर नाच रही है, तब ऐसी कौन-सी भोग-सामग्री या भोग-कामना है, जो उन्हें सुखी कर सके? भला, जिस मनुष्य को फाँसी पर लटकाने के लिये वधस्थान पर ले जाया जा रहा है, उसे क्या फूल-चन्दन-स्त्री आदि पदार्थ सन्तुष्ट कर सकते हैं? कदापि नहीं।

श्रुतं(ञ्) च दृष्टवद् दुष्टं(म्), स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।

बह्वन्तरायकामत्वात्, कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥ 21॥

वह भौतिक सुख, (यथा दैवी सुख-भोग के लिए स्वर्गलोक की प्राप्ति), हमारे द्वारा अनुभव किए गए भौतिक सुख के ही समान है। ये दोनों ही ईर्ष्या, द्वेष, क्षय तथा मृत्यु से दूषित रहते हैं। इसलिए जिस तरह फसल के रोग, कीट या सूखा जैसी समस्याएँ उत्पन्न होने पर फसलें उगाना व्यर्थ हो जाता है, उसी तरह पृथ्वी पर या स्वर्गलोक में भौतिक सुख प्राप्त करने का प्रयास अनेक व्यवधानों के कारण निष्फल हो जाता है।

अन्तरायैरविहतो, यदि धर्मः(स्) स्वनुष्ठितः ।

तेनापि निर्जितं(म्) स्थानं(यँ), यथा गच्छति तच्छृणु ॥ 22॥

यदि यज्ञ-यागादी धर्म बिना किसी विघ्न के पूरा हो जाये तो उसके द्वारा जो स्वर्गादि लोक मिलते हैं, उनकी प्राप्ति का प्रकार मैं बतलाता हूँ, सुनो।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः(स्), स्वर्लोकं(यँ) याति याज्ञिकः ।

भुं(ञ्)जीत देववत्तत्र, भोगान् दिव्यान् निजार्जितान् ॥ 23॥

यज्ञ करने वाला पुरुष यज्ञों के द्वारा देवताओं की आराधना करके स्वर्ग में जाता है और वहाँ अपने पुण्यकर्मों के द्वारा उपार्जित दिव्य भोगों को देवताओं के समान भोगता है।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे , विमान उपगीयते ।

गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये, देवीनां(म्) हृद्यवेषधृक् ॥ 24॥

उसे उसके पुण्यों के अनुसार एक चमकीला विमान मिलता है और वह उस पर सवार होकर सुर-सुन्दरियों के साथ विहार करता है। गन्धर्वगण उसके गुणों का गान करते हैं और उसके रूप-लावण्य को देखकर दूसरों का मन लुभा जाता है।

स्त्रीभिः(ख्) कामगयानेन, किं(ङ्)किणीजालमालिना ।

क्रीडन् न वेदात्मपातं(म्), सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥ 25॥

उसका विमान वह जहाँ ले जाना चाहता है, वहीं चला जाता है और उसकी घंटियाँ घनघनाकर दिशाओं को गुंजारित करती हैं। वह अप्सराओं के साथ नन्दनवन आदि देवताओं की विहार-स्थलियों में क्रीड़ाएँ करते-करते इतना बेसुध0 हो जाता है कि उसे इस बात का पता ही नहीं चलता कि अब मेरे पुण्य समाप्त हो जायेंगे और मैं यहाँ से ढकेल दिया जाऊँगा।

तावत् प्रमोदते स्वर्गे, यावत् पुण्यं(म्) समाप्यते ।

क्षीणपुण्यः(फ्) पतत्यर्वा- गनिच्छन् कालचालितः ॥ 26॥

जब तक उसके पुण्य शेष रहते हैं, तब तक वह स्वर्ग में चैन की वंशी बजाता रहता है; परन्तु पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहने पर भी उसे नीचे गिरना पड़ता है, क्योंकि काल की चाल ही ऐसी है।

यद्यधर्मरतः(स्) सङ्गा- दसतां(वँ) वाजितेन्द्रियः ।

कामात्मा कृपणो लुब्धः(स्), स्तैणो भूतविहिं(म्)सकः ॥ 27॥

यदि कोई मनुष्य दुष्टों की संगति में पड़कर अधर्म-परायण हो जाये, अपनी इन्द्रियों के वश में होकर मनमानी करने लगे, लोभवश दाने-दाने में कृपणता करने लगे, लम्पट हो जाये अथवा प्राणियों को सताने लगे....

पशूनविधिनाऽऽलभ्य, प्रेतभूतगणान् यजन् ।

नरकानवशो जन्तुर्- गत्वा यात्युल्बणं(न्) तमः ॥ 28॥

और विधि-विरुद्ध पशुओं की बलि देकर भूत और प्रेतों की उपासना में लग जाये, तब तो वह पशुओं से भी गया-बीता हो जाता है और अवश्य ही नरक में जाता है। उसे अन्त में घोर अन्धकार, स्वार्थ और परमार्थ से रहित अज्ञान में ही भटकना पड़ता है।

कर्माणि दुःखोदर्काणि, कुर्वन् देहेन तैः(फ्) पुनः ।

देहमाभजते तत्र , किं(म्) सुखं(म्) मर्त्यधर्मिणः ॥ 29॥

जितने भी सकाम और बहिर्मुख करने वाले कर्म हैं, उनका फल दुःख ही है। जो जीव शरीर में घमंड-ममता करके उन्हीं में लग जाता है, उसे बार-बार जन्म-पर-जन्म और मृत्यु-पर-मृत्यु प्राप्त होती रहती है। ऐसी स्थिति में मृत्युधर्मा जीव को क्या सुख हो सकता है?

लोकानां(लँ) लोकपालानां(म्), मद्भयं(ङ्) कल्पजीविनाम् ।

ब्रह्मणोऽपि भयं(म्) मत्तो, द्विपरार्धपरायुषः ॥ 30॥

सारे लोक और लोकपालों की आयु भी केवल एक कल्प है, इसलिये मुझसे भयभीत रहते हैं। औरों की बात ही क्या, स्वयं ब्रह्मा भी मुझसे भयभीत रहते हैं; क्योंकि उनकी आयु भी काल से सीमित-केवल दो परार्द्ध है।

गुणाः(स्) सृजन्ति कर्माणि, गुणोऽनुसृजते गुणान् ।

जीवस्तु गुणसं(यँ)युक्तो, भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥ 31॥

सत्त्व, रज और तम-ये तीनों गुण इन्द्रियों को उनके कर्मों में प्रेरित करते हैं और इन्द्रियाँ कर्म करती हैं। जीव अज्ञानवश सत्त्व, रज आदि गुणों और इन्द्रियों को अपना स्वरूप मान बैठता है और उनके किये हुए कर्मों का फल सुख-दुःख भोगने लगता है।

यावत् स्याद् गुणवैषम्यं(न्), तावन्नानात्वमात्मनः ।

नानात्वमात्मनो यावत् , पारतन्त्र्यं(न्) तदैव हि ॥ 32॥

जब तक गुणों की विषमता है अर्थात् शरीरादि में मैं और मेरेपन का अभिमान है; तभी तक आत्मा के एकत्व की अनुभूति नहीं होती-वह अनेक जान पड़ता है; और जब तक आत्मा की अनेकता है, तब तक तो उन्हें काल अथवा कर्म किसी के अधीन रहना ही पड़ेगा।

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं(न्), तावदीश्वरतो भयम् ।

य एतत् समुपासीरं(म्)स्- ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥ 33॥

जब तक परतन्त्रता है, तब तक ईश्वर से भय बना ही रहता है। जो मैं ओर मेरेपन के भाव से ग्रस्त रहकर आत्मा की अनेकता, परतन्त्रता आदि मानते हैं तो वैराग्य न ग्रहण करके बहिर्मुख करने वाले कर्मों का ही सेवन करते रहते हैं, उन्हें शोक और मोह की प्राप्ति होती है।

काल आत्माऽऽगमो लोकः(स्), स्वभावो धर्म एव च ।

इति मां(म्) बहुधा प्राहुर्- गुणव्यतिकरे सति ॥ 34॥

प्यारे उद्धव! जब माया के गुणों में क्षोभ होता है, तब मुझ आत्मा को ही काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेक नामों से निरूपण करने लगते हैं। (ये सब मायामय है। वास्तविक सत्य मैं आत्मा ही हूँ)।

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि, देहजेष्वनपावृतः ।

गुणैर्न बद्ध्यते देही, बद्ध्यते वा कथं(वँ) विभो ॥ 35॥

उद्धव जी ने पूछा- 'भगवन्! यह जीव देह आदि रूप गुणों में ही रह रहा है। फिर देह से होने वाले कर्मों या सुख-दुःख आदि रूप फलों में क्यों नहीं बँधता है? अथवा यह आत्मा गुणों से निर्लिप्त है, देह आदि के सम्पर्क से सर्वथा रहित है, फिर इसे बन्धन की प्राप्ति कैसे होती है?

कथं(वँ) वर्तेत विहरेत्, कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।

किं(म्) भुं(ञ्)जीतोत विसृजेच्-छयीतासीत याति वा ॥ 36॥

बद्ध अथवा मुक्त पुरुष कैसा बर्ताव करता है, वह कैसे विहार करता है, या वह किन लक्षणों से पहचाना जाता है, कैसे भोजन करता है? और मल-त्याग आदि कैसे करता है? कैसे सोता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?

एतदच्युत मे ब्रूहि, प्रश्नं(म्) प्रश्नविदां(वँ) वर ।

नित्यमुक्तो नित्यबद्ध, एक एवेति मे भ्रमः ॥ 37॥

अच्युत! प्रश्न का मर्म जानने वालों में आप श्रेष्ठ हैं। इसलिये आप मेरे इस प्रश्न का उत्तर दीजिये-एक आत्मा अनादि गुणों के संसर्ग से नित्यबद्ध भी मालूम पड़ता है और असंग होने के कारण नित्य मुक्त भी। इस बात को लेकर मुझे भ्रम हो रहा है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)

सं(म्)हितायामेकादशस्कन्धे भगवदुद्धवसं(वँ)वादे दशमोऽध्यायः ॥ 10॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥